

नागार्जुन के उपन्यासों में आंचलिकता

ज्वाला चन्द्र चौधरी

पूर्व शोधार्थी, विश्वविद्यालय-हिन्दी-विभाग, ल.ना.मि.वि., दरभंगा, बिहार, भारत

सारांश

कमलक्रांति के सशक्त कमलकश के रूप में जिन जनवादी साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्योदयान को सारस्वत जनक्रांति का आधार बनाया और समरसता के साए में जन-गण-मन को हर्षाया, उनमें बहुभाषी रचनाकार नागार्जुन की संज्ञा अनलाक्षरों में अंकित है जिनके उपन्यासों में आंचलिकता की तलाश अभी तक अधूरी है।

मूल शब्द: नागार्जुन, कमलक्रांति, साहित्योदयान, आंचलिकता

प्रस्तावना

अंचल एक जीवन्त व्यक्तित्व है, नायक है, जिस प्रकार से एक व्यक्तित्व की कुछ निजी विशेषताएँ होती हैं, उसकी प्रकृति होती है जो उसे अन्य अनेकानेक व्यक्तित्वों की सामान्य गति-स्थिति से पृथक् करती है, ठीक वैसे ही अंचल अपनी संपूर्ण विविधता एवं समग्रता के साथ एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है, जीवन्त और जटिल समस्त भूमि का अंग होकर भी अपनी विशिष्ट इकाई, विशेष भूखण्ड होता है। वहीं एक विशेष परिवेश में उसके क्षेत्रीय जीवन-सत्य का उद्घाटन होता है। अपनी भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विशेषताओं, जीवन की सारी परम्पराओं, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, शक्ति-अशक्ति, छवि-अछवि, प्रकाश-अप्रकाश की सच्चाई में अंचल एक समूचा व्यक्तित्व है, उसका एक निजत्व है और उसे खोजने का माध्यम है वैज्ञानिक दृष्टिकोण यानी कोरे यथार्थवाद से हटकर संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि। इस व्यक्तित्व को देखने-खोजने का अर्थ है-अंचल के समग्र जीवन को बाहर और भीतर दोनों ओर से देखना, जीवन जितना बाहर है उतना ही भीतर भी, फिर भी उसे बांटकर नहीं देखा जा सकता। समूचा जानने का प्रयत्न किए बिना न प्रभाव चित्र बनता है और न देखने की पकड़ सही दृष्टि से आती है। शरीर हो या अंतस्, दोनों में से किसी एक के अभाव में व्यक्ति अधूरा है, दोनों को संयुक्त करके ही पूरा व्यक्तित्व बनता है यानी कि परिवेश और परम्परा दोनों। अंचल की धारणा इसके बगैर या तो है ही नहीं और यदि है तो अधूरी है। अंचल अपनी भौगोलिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विशेषताओं में अपने निवासियों में रूपायित होता है।

साहित्य की अन्य विधाओं की भांति 'उपन्यास' का लक्ष्य भी जीवन और जगत् संबंधी यथार्थ चेतना की अभिव्यक्ति है तथा इसमें जीवनगत सत्य की पूर्ण अवधारणा होती है। किसी भी युग की अपनी विशिष्ट विचारधारा होती है, वर्तमान युग में उपन्यास की महती प्रतिष्ठा है। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन संबंधी उपन्यास साहित्य में हिन्दी जगत् के महत्वपूर्ण एवं अनदेखे विषयों को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने का प्रयत्न किया जाता है।

हिन्दी उपन्यासों में 'आंचलिक उपन्यास' एक ऐसी विधा है, जिसका साहित्य में निरंतर विकास होता रहा है। इन उपन्यासों के अंतर्गत भारत के वे क्षेत्र जहाँ स्वतंत्रता की किरण का धुंधला स्वरूप ही है, उन्हें पूर्ण प्रकाशित करने का लक्ष्य निरूपित किया है। आंचलिक उपन्यासों में समाज एवं संस्कृति की अभिव्यक्ति के साथ-साथ संबंधित अंचल की प्रत्येक गतिविधि का जीवन्त चित्रण किया जाता है। मानव मन की आकांक्षाओं, विद्रोह का

भाव, सहानुभूति, कारुण्य, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, स्वार्थ आदि का चित्रण साहित्य के अंतर्गत किया जाता है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि जिसमें देश के विशिष्ट क्षेत्र या जनपद के जन-जीवन का समग्र चित्रण कर उसकी प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत के साथ स्थानीय रंगों सहित वहाँ के निवासियों के समानान्तर होकर उसकी अनुभूति कर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति की जाती है, उसे आंचलिक उपन्यास कहते हैं।

नागार्जुन के उपन्यास 'लोक संस्कृति के प्रति किसी प्रतिबद्धता से बंधे हुए नहीं हैं। न ही उनकी रचनाओं में किसी रूप में उनका अपना या कोई विशेष अंचल ही मुखर रूप से उनके औपन्यासिक कथा लेखन का प्रतिनिधित्व करता दीखता है। वरन् नागार्जुन सही मायनों में ग्रामीण जीवन के रचनाकार हैं। इस ग्रामीण जीवन के जो तीसरी दुनिया के देशों के एक सार जीवन पद्धति के लगभग एक हजार वर्षों के अपरिवर्तित (या बहुत कम परिवर्तित) जीवन शैली का प्रतिनिधित्व करता है। यह लोकांचल उस अभौतिक संस्कृति का आश्रय प्रतिरूप है जिसकी प्रकृति अभूतपूर्व एवं अनुपम ढंग से स्थिर रही है। स्वयं इसके बड़े नियंता अथवा निर्धारक भी इसके रूप (रीति रिवाज, शैली क्रिया प्रणाली एवं विरासत के प्रदेशों) में परिवर्तन का साहस नहीं जुटा सकते। इस संस्कृति के इस पक्ष में एक अनिवार्य गुण 'बाध्यता का गुण' है।

नागार्जुन अपने उपन्यासों में मिथिला के सौन्दर्य पक्ष को भी उसी खूबसूरती से दिखाते हैं। संस्कारों के अनुपम सौन्दर्य से अभिभूत रचनाकार के हृदय की अपनी कुछ रूचि भी है। नागार्जुन एक स्थान पर कोष्ठक बद्ध टिप्पणी करते हैं- 'मिथिला की कुलीन ब्राह्मणियों के जीवन में इस तकली का बहुत बड़ा स्थान रहा है। कुटीर शिल्प का यह मधुर प्रतीक अब तो उदाता जा रहा है, फिर भी जनेऊ के लिए तकली से निकले इन बारीक सूतों की आवश्यकता अनिवार्य समझी जाती है। फुर्सत का वक्त स्त्रियाँ तकली के सहारे बहुत आसानी से काट लेती हैं।'⁽¹⁾ इस पहले ही उपन्यास में जातीय संस्कृति, तथा भौगोलिक पारंपरिक पहचान के प्रति उपन्यासकार का मोह एक बार रोमांटिक भी होता है- 'बड़ी पोखर के भिंडे पर उत्तर की ओर मुँह करके जयकिशोर दातुन करने बैठे। आगे खेतों में धान के हरे हरे पौधे लहरा रहे थे। उनसे परे आमों के नील निकिड़ कुंज थे। उनसे भी परे सुदूर उत्तरी आकाश में हिमालय की धवल-धूमिल चोटियाँ थीं, जो उगते सूरज की पीली किरणों से उद्भाषित होकर स्वर्ण, श्रृंग सी लग रही थीं..... सुजलां सुफलां मलयजशीतलां, फुल्ल

कुसुमित द्रुमदल शोभिनीं शुभ्रज्योत्सना पुलकितयामिनीं सुहासिनी सुमधुर भाषिणीं सुखदां वरदां मातृभूमि की वन्दना के लिए बंगीय बंकिम चन्द्र ने इन विशेषणों का उपयोग किया है।⁽²⁾

वस्तुतः समाज मात्र व्यक्तियों का आवश्यकता से परिचालित समूह भर नहीं है बल्कि उनके बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों की व्यवस्था भी है। नागार्जुन अपने 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', वरुण के बेटे, 'पारो', 'नई पौध', जैसे उपन्यासों में जिस जटिल मानवीय संबंधों की कहानी कहते हैं, वह जातीय पहचान और क्षेत्रीय सांस्कृतिक पुंज दोनों ही के रूप में प्रकट होती है – "दरभंगा जिला तीन डिविजनों (तहसीलों) में बंटा हुआ है— सदर, समस्तीपुर और मधुबनी/सदर और मधुबनी अपने धान की अच्छी फसल के लिए मशहूर हैं। बरखा (बारिश) उधर बैशाख के अंत से ही शुरू हो जाती है। रोहनी नछत्तर (नक्षत्र) में कोसों फँले खेत धान के नए-नए पौधों से समुंदर की भांति लहराने लगते हैं। आंखों को तर करने वाली वैसी हरियाली तुम्हें और कहाँ मिलेगी।"⁽³⁾

इस जातीय संस्कृति, लोक संस्कृति के प्रति मोह का व्यामोह से परे नागार्जुन उन स्याह पक्षों को प्रदर्शित करने के प्रति भी उत्तरे ही ईमानदार है; जितने कहानी कहने के ग्रामीण जीवन के लोक परंपरा के भयावह विश्वासों एवं रूढ़ियों को बड़े सपाट रूप में उपन्यासकार इन रूपों दिखाते हैं— "इन्द्रमणि को अपनी तीन कन्याओं का भरण पोषण आजन्म करना पड़ा, क्योंकि चार में से तीन दामाद परम अभिजात, महादरिद्र और बिकौआ थे।"⁽⁴⁾ उन्हें कहा जाता था जो अपनी कुलीनता बेच-बेच कर अपनी जीविका चलाते थे। एक-एक व्यक्ति बाईस-बाईस तक शदियों करते थे। ग्रामीण अभौतिक संस्कृति की प्रकृति की स्वाभाविकता दरअसल मानवीय गुणों, समाज के अंतिम लक्ष्यों एवं सामूहिकता को सर्वाधिक महत्व देती है। यह संस्कृति तुलनात्मक रूप से कितनी सरल या कितनी जटिल है, इसका अनुमान गाँवों में विभाजित कार्यों एवं जातिगत उत्तरदायित्व से ही पहचाना जा सकता है। नागार्जुन ग्रामीण संस्कृति में लोकपक्षीय वैचारिकी और रूढ़ियों के तनाव के साथ एक पूरे ताने-बाने को जिस रूप में पिरोते हैं, वह ग्रामीण विश्वास एवं सांस्कृतिक समझ का सबूत बन जाता है— "यों तो भार का मतलब है बोझा, मगर सौगात में एक गाँव से दूसरे गाँव भेजे जाने वाले ये मार मामूल ढंग से नहीं होते। बाँस की लकड़दार बहंगी कंधे पर होती है, उसके दोनों छो से लटकते छिक्कों पर दही के छौंछ, चिबड़ा से भरा चँगेरा, केले की घौंदे, पकवानो या मिठाइयों से भरी डालियाँ, धोती, साड़ी, लहठी (लाख की चूड़ियाँ) या ऐसा ही और भी कुछ डाल दिया जाता है। बस यही भा कहलाता है। इसको लेकर चलने वाले भरिया कहलाते हैं।"⁽⁵⁾

नागार्जुन के गँवई जीवन और लोक संस्कृति विषयक उनकी चेतना इसी सूत्र के सहारे आगे बढ़ती है। प्रश्न यह है कि 'लोकजन' जिस जीवन को रोजमर्रा जीता है उसके जीवन में तमाम मुश्किलों एवं संघर्षों के बीच से उसे जीवनी शक्ति प्रदाता कौन है? यह सवाल हमेशा से मौजूद रहा है। एक हद तक यह कौतूहल का भी कारण रहा है क्योंकि हम देखते हैं कि जीवन जीने के क्रम में अपनी जिजीविषा तथा 'परिवेशमोह' के अतिरिक्त भी कुछ है, जो अहम भूमिका अदा कर रहा होता है। यह 'कुछ और' ही वह वस्तु है जो आकाशवृत्ति से लेकर अनायासवृत्ति तक वालों को भी जीने में रस का आस्वाद देता है। यह 'कुछ और' और कुछ नहीं हमारे दैनिक जीवन में संघर्षों के बीच गा सकने का हौसला ही तो है।

नागार्जुन इस ग्राम्य जीवन और उसकी संस्कृति को एक प्रवाह के साथ प्रदर्शित करते हैं। यह प्रवाह कथा का प्रवाह है तगि मिथिलांचल को दिखाने के कोण के अन्य सभी पूर्ववर्ती रचनाकारों के नजरिए से थोड़ा अलग है। वस्तुतः उपन्यासकार की नजर एक यथार्थ पर टिकी रही है— एक कठोर यथार्थ पर।

दिलचस्प यह है कि उपन्यासकार जहाँ भी अपने निजी जातिगत परिवेश को कथाक्रम की भावभूमि बनाते हैं, वहाँ प्रमुख रूप से समस्याधर्मिता आगे है— वरुण के बेटे (वर्ष 1956-57 में प्रकाशित), उग्रतारा (वर्ष 1963) या गरीबदास (वर्ष 1979 में) जैसे उपन्यासों में गँवई जीवन का असली सौन्दर्य उभर कर आता है। यह 'वरुण के बेटे' उपन्यास की गालियों में हो— "राक्षस की नानी!" चुपचाप आकर पीछे से बड़ी बहन जिलेबिया ने उसका एक कान कसकर खींचा। गाल पर चपत लगाकर कहा "बुढ़िया रानी, घर आँगन की बातें यहाँ उड़ाई जाती हैं? खबरदार, जीभ निकाल लूँगी!...."⁽⁶⁾

सिलेबिया तुनक कर उठी और बहन को गालियाँ देने लगी— "राँड़ी! दगधी! निरासी! छुच्छी! सइयाँ डाही!.... ऊँगलियों में कोढ़ फूटेगी! हाथ गल-गल कर गिरेगाSSS...।"⁽⁷⁾

या फिर "बाबा बटेसर नाथ" के दुसाध (निम्न जाति) के अपने आदि वीर पुरुष के प्रेमगीत में दीखता है— "उमर बीत गई/बाल पकने लगे/पिछले बारह वर्षों से इस आंचल में गाँठ बाँध रखी है मैंनेरुआने का लेता है तो भी नहीं नाम/नितुर मेरा दुसाध... /राजा सलहेस प्रीतम मेरे/तेरे नाम पर गाँठ बाँध रखी है/ अपने आंचल में मैंने/ओ नितुर! निर्मोही!!"⁽⁸⁾ गीत के ये पद जैकिसुन ने आज तक नहीं सुने थे। यह तो उसे मालूम था कि सलहेस दुसाधों का वीर पुरुष था, महाराज। कुसुम दोना उसकी प्रेयसी थी। लेकिन सलहेस के बारे में गाए जाने वाले पद इतने मार्मिक हो सकते हैं, जैकिसुन को इसकी कोई कल्पना नहीं थी।"⁽⁹⁾

लोकजीवन एवं लोक संस्कृति का यह एक कठोर सत्य है कि यहाँ बाध्यतामूलकता हावी होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति से इसी के अनुसार व्यवहार की आशा की जाती है। अपने समाज के विश्वासों एवं स्थापित परिपाटी की अवहेलना पर लोकजन को एक प्रकार से सामाजिक अस्वीकृति, प्रताड़ना और ऐसे ही किसी सामाजिक दंड का सामना करना पड़ सकता है। नागार्जुन इन अर्थों में अधिक वामचेता रचनाकार हैं क्योंकि अपने तामामतर उपन्यासों में अपने अंचल के रूढ़ मान्यताओं में पिसनेवाले जन के दर्दों को खुद अपने तई पात्रों में उतार कर जीने में विश्वास करते हैं यद्यपि जीवन के कथा प्रवाह में आए अनायास मधुर क्षण भी हैं— "घूँघट हटा दी गई तो दुल्हन ने अपनी नजरों को चुरा लिया, होठों को जब्त किए रहीं। आखिर कब तक? कुछ जबाब नहीं, इशारा तक नहीं! वह प्रतिमा की तरह बैठी रहीं। पैर तख्तापोश से नीचे लटक रहे थे।"⁽¹⁰⁾

वस्तुतः ग्रामीण जीवन एवं लोक की संस्कृति तो प्रकृति से ही स्वाभाविक एवं सरल होती है। स्वाभाविकता एवं सरलता के मिश्रण से बनी संस्कृति में खान-पान वेष-भूषा, जीवन के संघर्षों के बीच से आस्था के बनते हुए मस्तूल तथा जीवन का दर्शन इसकी विशेषता बन जाती है। नागार्जुन अपने अंचल से बाहर के किसी सांस्कृतिक पक्ष को कभी भी जोड़ने या चुनने नहीं जाते। यहाँ उनके अपनी ही ग्रामीण जीवन की महिमा मानवीय गुणों, समाज के साध्य लक्ष्यों एवं एक सामूहिकता में नजर आती कार्याविधियों में प्रकट होती है। "दुखमोचन को मामी ने ही पान खाना सिखलाया था। चार-पाँच साल के अपने कलकत्ता प्रवास में उन्होंने कभी कभार ही पान खाया होगा। बंगाली या उड़िया पान से उन्हें विरक्ति थी। हाँ मगही पान का बनारसी विन्यास उन्हें अच्छा लगता था। मामी के मायके वाले जिला पूर्णिया के सुखी-सम्भ्रांत काश्तकार लोग थे, जिनके यहाँ पान जर्दा रोजाना की खुराक में शामिल था। इस परिवार में भी मामी ने पान खाने के कई चले तैयार कर लिए थे।"⁽¹¹⁾

स्पष्टतया जनरीतियों और लोकाचारों में केवल सामाजिक स्वीकृति की मात्रा का ही भेद रहता है। लोकाचारों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं— जैसे—समूह कल्याण की भावना, नैतिक नियमों की अनिवार्य सम्बद्धता, सामाजिक आदतों की समुच्चय प्रवृत्ति, बाध्यता

के गुण, परंपरा के तर्क से परिपुष्टि आदि। वैसे जनरीतियों की तुलना में लोकाचार अधिक स्थायी होते हैं। आशय यही है कि अनेक जनरीतियाँ जब उपयोगी या किसी कारणवश स्वीकृति या लेती हैं तब वे लोकाचार के रूप में बदल जाती हैं। इतना ही नहीं जनरीतियों एवं लोकाचारों के विकास की प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। साधारणतया जनरीतियों में परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होता रहता है जबकि लोकाचार स्वयं में किसी अहम बदलाव की इजाजत नहीं देते या अगर हो भी तो वह बड़ा ही बारीक और मंथरगति वाला होता है। इसी तरह परंपरागत समाजों में व्यवहार के कुछ ऐसे नियमों को भी स्वीकृति मिली होती है, जो अभिलेखित नहीं होते पर उनका प्रभाव कानूनों से कम भी नहीं होता। इन नियमों की रूपरेखा लोकाचारों की तरह ही स्वाभाविक होती है लेकिन इनकी स्वीकृति कानूनों की तरह हढ़ होती है। इन्हीं नियमों को प्रथाएँ कहा जाता है। सामान्यतः प्रथाओं का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से होता है; यह बात और है कि कोई समाज जिन ढंगों से एक विशेष अर्थ लगाकर इन्हें अपनी संस्कृति का अंग मानने लगता है, वे ही नियम प्रथाओं के रूप में विकसित हो जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि नागार्जुन के उपन्यासों में तमाम जन-रीतियों और लोकाचारों का विन्यास है, आँचलिकता के आलोक में ही आँचलिक लोकाचारों को भी देखा जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि इनके उपन्यासों में ही सर्वप्रथम आँचलिकता की उसकी फैली, जिसका मूल्यांकन अगर किया जाता, तब आँचलिक कथाकार के रूप में ही इनका मूल्यांकन होता।

संदर्भ सूची

1. रतिनाथ की चाची; पृ.-15; नागार्जुन रचनावली भाग-4; संपा. शोभाकान्त (राजकमल प्रकाशन)
2. वही; पृ. 19
3. वही; पृ. 87
4. बलचनमा; पृ.140, नागार्जुन रचनावली भाग-4; संपा. —शोभाकांत (राजकमल प्रकाशन)।
5. रतिनाथ की चाची; पृ. 24; नागार्जुन रचनावली भाग-4; संपा. शोभाकांत (राजकमल प्रका)
6. वही,
7. बलचनमा; पृ. 130; नागार्जुन रचनावली भाग-4 संपा— शोभाकांत (राजकमल प्रकाशन)
8. वही; पृ. 150
9. वही; पृ. 207
10. वही; पृ.—213
11. वही; पृ.—228
12. वरुण के बेटे; पृ. 456; नागार्जुन रचनावली भाग-4, संपा—शोभाकान्त (राजकमल प्रकाशन)